अध्यापक की आम छवि क्या है और यह कैसे बनती है? पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में हमारे देश में अपनाई गई आर्थिक नीतियों का इस पर क्या असर हुआ है? शिक्षा तंत्र में अध्यापक की क्या हैसियत है? यह लेख बताता है कि बाजार की ताकतों ने अध्यापक की छवि को धूमिल किया है। नब्बे के दशक के बाद शिक्षकों की सेवा शर्तों के साथ तमाम तरह की छूटें ली गईं। शिक्षा की गुणवत्ता में कमी का दोष अध्यापक के मत्थे मढ़ा गया और उसकी पहले से कमतर हैसियत को और ज्यादा हाशिए पर धकेल दिया। यह लेख बाजार के मंसूबों और अध्यापकों के सरोकारों की चर्चा करता है।

साधना सक्सेना

15 वर्ष तक मध्य प्रदेश की किशोर भारती संस्था में विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के साथ जुड़कर कार्य किया। वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान में विज्ञान शिक्षण एवं शिक्षा के समाजशास्त्र की एसोसिएट प्रोफेसर हैं।

बाजार की लाठी और अध्यापक

नई आर्थिक नीतियां और शिक्षकों के (अदृश्य) सरोकार

इक्कीसवीं सदी के बीते पहले दशक में स्कूली शिक्षक की अत्यन्त नकारात्मक छवि प्रचारित हुई है। 1990 से ही ऐसा माहौल बनने लगा था जिसमें शिक्षाविदों से लेकर आम लोगों तक सभी यह मानने लगे कि शिक्षकों को बहुत पैसा मिलता है, वे पढ़ाते नहीं हैं, भेदभाव करते हैं, स्कूलों से गायब रहते हैं, राजनीति में लिप्त रहते हैं और यूनियन बाजी करते हैं। कुछ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शोधों ने, जिनका हवाला लगातार दिया जाता है, इस छवि को पुख्ता किया और इसे अकादमिक जामा भी पहनाया। ये शोध शिक्षक के वेतन संबंधित नीतियों में लाए गए परिवर्तनों को बिना विरोध के सामाजिक स्वीकृति दिलवाने और न्यायोचित ठहराने के ठोस आधार भी दीख पड़ते हैं।

इन नीतियों के समर्थकों का कहना है कि शिक्षा बजट का 80-90 प्रतिशत तक हिस्सा शिक्षकों के वेतन पर खर्च होता है। इसलिए शिक्षा के प्रसार के लिए राजस्व घाटे के दौर से गुजरते राज्यों को शिक्षक वेतन में कटौती करना अपरिहार्य था। इस संदर्भ

यह समझना भी जरूरी है कि शिक्षकों के रूढ़िगत विचारों और व्यवहारों को चुनौती ज्ञान और आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा देने से ही दी जा सकती है। आज के शिक्षक-प्रशिक्षण शिक्षकों की क्षमताओं को निखारने और ज्ञान की भूख को पूरा करने में अक्षम हैं। आमतौर पर शिक्षक-प्रशिक्षण आलोचनात्मक चिन्तन का विकास करने में भी अक्षम हैं।

में यह याद रखा जाना चाहिए कि बावजूद राजस्व संकट के दक्षिण के कम-से-कम तीन राज्यों ने शिक्षकों के वेतन में कटौती नहीं की। इनके अलावा मध्य प्रदेश और बिहार को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में संविदा नियुक्तियां न्यूनतम हैं और नई नियुक्तियां पक्की नौकरियों की सेवा शर्तों के अनुसार हो रही हैं। परन्तु 20वीं सदी का आखरी दशक अलग-अलग राज्यों में संविदा शिक्षक, जिन्हें 'पैरा शिक्षक' भी कहा जाता है, के संघर्षों का दौर भी रहा है। इस पूरे दौरान शिक्षक की छवि को जो नुकसान पहुंचा है, उसका असर लम्बी अवधि तक रहेगा।

इस लेख के दो हिस्से हैं। पहले हिस्से में दिल्ली और मध्य प्रदेश के शिक्षकों के अनुभवों के आधार पर उन मुद्दों पर प्रकाश डालने का प्रयास है जो शिक्षा के विमर्श का हिस्सा नहीं बन रहे हैं। यह वे अदृश्य मुद्दे हैं जो स्कूली शिक्षक के प्रति पैदा किए गए माहौल के कारण छिप या दब गए हैं पर जिनका स्कूली शिक्षा से अहम रिश्ता है। लेख के दूसरे हिस्से में यह स्थापित करने का प्रयास है कि स्कूली शिक्षक की यह नकारात्मक छवि बनाना, शिक्षकों की सेवा शर्तों और वेतन में ढांचागत परिवर्तन करना सभी आर्थिक नीतियों में आमूल परिवर्तन का हिस्सा है।

आगे बढ़ने से इस बात को स्पष्ट करना जरूरी है कि शिक्षक समुदाय समरूपी समुदाय या समाजशास्त्रीय श्रेणी है, ऐसा नहीं कहा जा रहा है। वे मात्र अपने कार्य के कारण एक समुदाय के रूप में जाने जाते हैं। इसे नकारा नहीं जा सकता कि शिक्षकों के बीच जाति, धर्म, वर्ग और जेन्डर संबंधी वे सभी पूर्वाग्रह, अन्तर्द्वन्द्व, विरोधाभास, मतभेद और टकराव हैं जो आम समाज में व्याप्त हैं। इसके अलावा ग्रामीण और शहरी भी महत्त्वपूर्ण विभाजन है, शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य -- सामाजिक न्याय और समानता -- को हासिल करवाने में यह सभी बाधक भी हो सकते हैं। इस प्रकार अपनी सामाजिक और आर्थिक अवस्थिति के कारण शिक्षक उत्पीड़ित और उत्पीड़क कुछ भी हो सकते हैं। वे राजनीति करते हैं पर उसके शिकार भी होते हैं। इन गैर-बराबरियों और विभिन्नताओं के बावजूद वे शिक्षा तंत्र में सबसे नीचे की पायदान पर हैं जिनकी कोई भूमिका नीति बनाने और बुनियादी फैसलों को करवाने में नहीं होती है।

शिक्षक समुदाय में एक विभाजन और भी है जिसे शिक्षकों के खिलाफ चली मुहिम अदृश्य कर देती है। यह विभाजन है काम करने और न करने वालों के बीच का। सभी शिक्षक इन नौकरियों में मात्र धन कमाने नहीं आते हैं। वे पढ़ाने में रुचि और क्षमता होने के कारण भी व्यवसाय में आते हैं। वे विपरीत परिस्थितियों में काम करने का प्रयास करते हैं परन्तु शिक्षा तंत्र इसको देखने में या तो अक्षम है या जानबूझकर अंधा है। शिक्षा का प्रसार बिना शिक्षकों के संभव नहीं है, यदि कम से कम इस एक कारण को भी ध्यान में रखें तो शिक्षक के बारे में ज्यादा सूक्ष्म, गहरी और व्यवस्थित समझ बनाना जरूरी है।

यह समझना भी जरूरी है कि शिक्षकों के रूढ़िगत विचारों और व्यवहारों को चुनौती ज्ञान और आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा देने से ही दी जा सकती है। आज के शिक्षक-प्रशिक्षण शिक्षकों की क्षमताओं को निखारने और ज्ञान की भूख को पूरा करने में अक्षम हैं। आमतौर पर शिक्षक-प्रशिक्षण आलोचनात्मक चिन्तन का विकास करने में भी अक्षम हैं। शिक्षक-प्रशिक्षणों का अकादमिक स्तर न तो विषय का ज्ञान और समझ बढ़ाता है और न ही सामाजिक चेतना का विकास करता है। शिक्षक आलोचनात्मक चिंतक बनें, यह हमेशा एक बड़ी चुनौती रही है और इसके बिना शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार की चर्चा करना एक सरकारी कर्मकाण्ड मात्र है। चिन्ता की बात यह है कि आजकल गुणवत्ता की चर्चा तो बहुत है, परन्तु इसका मापदण्ड या तो परीक्षा परिणाम हैं या परीक्षा न लेना है। परिश्रम और सातत्य ज्ञान अर्जन की पूर्व शर्त है जो दोनों, शिक्षक और विद्यार्थियों पर लागू होती हैं। इसे मात्र प्रचार के मकसद से सतही मापदण्डों के आधार पर प्रशासकों को खुश करने के लिए मापा जाना और इसके परिणामों के आधार पर शिक्षकों को पुरस्कृत

या अपमानित करना गुणवत्ता को भी राजनैतिक अखाड़ा बना देना है।

शिक्षकों के अनुभव

बहुत से शिक्षकों का कहना है कि आज की पूरी शिक्षा व्यवस्था शिक्षकों पर अविश्वास पर टिकी है। शिक्षा के बदलते अर्थशास्त्र, जिसमें शिक्षक का वेतन प्रमुख अंग है, के लिए इस अविश्वास को सुदृढ़ करना जरूरी है। यह व्यवस्था शिक्षकों से संवाद पर भरोसा नहीं करती। ऐसे शोधों की भी कमी है जो ठोस मैदानी हकीकत को सामने लाते हों, जिनमें शिक्षकों की दृष्टि से प्रशासनिक और अकादमिक मुद्दों को समझने का प्रयास होता हो और जो उनकी राजनैतिक ताकत या राजनीति के कारण इनकी घटती हैसियत की समझ बनाते हों। नुमायशी तौर पर इक्का-दुक्का शिक्षकों को विभिन्न समितियों में रख देने से शिक्षकों का प्रतिनिधित्व नहीं होता।

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के संदर्भ में ढेरों योजनाएं बनीं जिनके तहत कई तरह के प्रशासनिक काम शिक्षकों पर थोपे गए। इसका सीधा असर पढ़ाने की उनकी प्रेरणा और समय पर पड़ा। हालांकि बड़े शहरों और छोटे कस्बों तथा गांवों के स्कूलों की योजनाओं में अन्तर है। प्रत्यक्ष रूप से गांवों में उच्च वर्ग या जाति के शिक्षकों की हैसियत उन्हें संरक्षण देती है फिर भी प्रशासनिक कार्यों के बोझ, दबाव और सरकारी प्राथमिकताओं ने पढ़ाने के समय और जोश पर नकारात्मक असर डाला है। इसके अलावा सरकारी कर्मचारियों में सबसे अधिक संख्या होने के कारण साक्षरता सहित सभी शैक्षिक और गैर-शैक्षिक व्यापक सर्वेक्षणों और कार्यक्रमों की जिम्मेदारी भी इन्हीं पर होती है। इस सब कार्यों में पढ़ाने का कितना वक्त जाता है न तो इसकी व्यवस्थित गणना है और न ही 'सफलता के आंकड़ों' की दरकार की दौड़ में लगे प्रशासकों और नेताओं को इससे कोई मतलब ही है।



इस संदर्भ में दिल्ली के एक उच्च माध्यमिक स्कूल की प्रधानाचार्या का अनुभव कई स्तरों पर चीजों का खुलासा करता है। ये प्रधानाचार्या वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों के साथ प्रधानाचार्यों की बैठक में इतना भर कह बैठी थीं कि स्कूलों में प्रशासनिक कार्यों का बोझ बढ़ गया है। शिक्षक या तो बैंक के फार्म भरते/भरवाते रहते हैं या यूनीफार्म और छात्रवृत्तियां बांटते रहते हैं, ऐसे में पढ़ाई का नुकसान होता है। इसलिए प्रशासनिक कामों के लिए कुछ और पद स्कूलों को दिए जाएं। प्रधानाचार्या के इस 'दुस्साहस' पर वरिष्ठ अधिकारी को बहुत गुस्सा आ गया। भरी सभा में उन्होंने प्रधानाचार्या को डपट दिया और कहा कि शिक्षक काम नहीं करना चाहते, इसलिए ऐसे बहाने करते हैं। उन्होंने आगे कहा कि ऐसे शिक्षकों के नाम बताए जाएं ताकि उन पर विभागीय कार्यवाही की जा सके। प्रधानाचार्या अवाक् रह गईं। प्रतिवाद में उन्होंने कुछ कहने की कोशिश की परन्तु उन्हें रोक दिया गया।

यह अनुभव सुनाते हुए प्रधानाचार्या ने कहा कि संस्था प्रमुख होते हुए भी वे न तो सवाल पूछ सकती हैं, न स्पष्टीकरण मांग सकती हैं, न असहमति जाहिर कर सकती हैं और न अनुभव ही बांट सकती हैं। उन्हें बैठकों में मात्र अधिकारियों के निर्देश/आदेश या धमकियां सुनने के लिए जाना होता है। मुंह खोलने का अर्थ है, अपमानित होना। वे बोलीं कि वे एक ऐसे स्कूल की प्रधानाचार्या हैं जहां पुनर्स्थापित बस्तियों की डेढ़ हजार से ज्यादा लड़कियां पढ़ने आती हैं। अधिकतर बच्चियों के मां-बाप पढ़े-लिखे नहीं हैं और वे विभिन्न प्रकार की कागजी कार्यवाहियों यानी फार्म भरना, आदि के लिए पूर्णतः स्कूलों पर निर्भर हैं। दिल्ली जैसी जगह में लोग योजनाओं के बारे में अवगत होते हैं। शिक्षकों की मदद न मिलने पर वे नाराज होते हैं और कई बार धमकियां भी देते हैं। प्रधानाचार्या ने कहा कोई ऐसा मंच नहीं है जहां वे अपने अनुभव और परेशानियां अनुकूल माहौल में रख सकें। योजनाओं का ब्यौरा देते हुए उन्होंने बताया कि इस समय मध्याह्न भोजन, गणवेश वितरण या उसका पैसा वितरण, पत्रिका निकालना, किताबें वितरण (आठवीं तक), नवीं से बारहवीं तक के विद्यार्थियों में किताबों के लिए पैसे वितरण, ज्योमेट्री बॉक्स, कॉपियां और

नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत शिक्षा को बाजार के हवाले करने का दबाव लगातार रहा है और शिक्षकों के खिलाफ माहौल बनाना इन परिवर्तनों की आम स्वीकृति के लिए जरूरी रहा है।

अलग-अलग तरह के वजीफे वितरण, स्थानीय और बाहर के टूर करवाना, लाड़ली योजना के खाते खुलवाना (पांचवीं के बाद सभी विद्यार्थियों के), युवा क्लब की गतिविधियां करवाना, मेले लगवाना और इन सब कार्यक्रमों के लिए आने वाले अनुदानों का लेखा बनाना शामिल है। चुनाव, जनगणना, दाखिला अभियान, सर्व शिक्षा अभियान रैलियां, स्कूलों के भवन में बैंक और अन्य पब्लिक परीक्षाएं करवाना, रिजल्ट ऑनलाईन भेजना और हर दिन कम-से-कम सूचना के अधिकार के 10 सवालों का जवाब देना अलग है। प्रशासनिक मदद के नाम पर एक क्लर्क और एक सहायक इनके पास हैं। भवन में कक्षा लगाने के लिए कमरे कम और छोटे हैं। डेस्क या तो हैं नहीं या उन्हें रखने की जगह नहीं है कमरों में। आठवीं तक की कक्षाओं में प्रति सेक्शन 100 से ज्यादा विद्यार्थी हो गए हैं और नवीं से बारहवीं तक 75-75। प्रधानाचार्या पूछ रही थीं कि किस मंच पर, किस अधिकारी से क्या चर्चा करें?

वास्तव में यह अनुभव किसी एक प्रधानाचार्या या शिक्षक का नहीं है। पिछले 10 वर्षों के दौरान लेखिका ने ढेरों शिक्षकों से औपचारिक और अनौपचारिक चर्चाएं की हैं। लगभग सभी के पास परेशानियों, अपमान और वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा धमकाए जाने के अनुभव हैं। ये अनुभव दिल्ली के अलावा अन्य राज्यों के शिक्षकों के भी हैं। सरकारी स्कूलों के शिक्षकों की स्थिति ज्यादा खराब है क्योंकि शिक्षा संबंधी योजनाओं और गैर-शिक्षायी काम उन्हीं की जिम्मेदारी होती है। कुछ प्रमुख मुद्दे जो शिक्षक उठाते हैं वे इस प्रकार हैं :

- शिक्षकों का कहना है कि शिक्षा का स्तर और गुणवत्ता बदतर हुई है क्योंकि पढ़ाने के घण्टे लगातार घट रहे हैं और अन्य ताम-झाम व कागजी कार्यवाही कई गुना बढ़ी है।
- जोर नारेबाजी पर है, न कि गंभीरता से पढ़ाई करवाने पर।
- उपलब्धियों को मापने का एकमात्र तरीका परीक्षा परिणाम है। इस पर शिक्षक का अस्तित्व यानी नौकरी में प्रमोशन, नौकरी का पक्का होना या अपमान झेलना निर्भर है।
- परिणाम की प्रमुखता के माहौल में शिक्षक कई बार झूठ बोलने को बाध्य होते हैं।
- सभी शिक्षकों ने कहा कि उनका पढ़ाने का ढेरों समय तरह-तरह के फार्म भरने जैसे, नामांकन और ड्रॉप-आउट के आंकड़े जुटाने; परीक्षा परिणाम, बैंकों के फार्म, इत्यादि भरने में चला जाता है। सरकारी नीतियों जैसे, सतत एवं समग्र मूल्यांकन ने पहले से प्रशासनिक कामों की मार झेल रहे शिक्षकों के बोझ को और बढ़ा दिया है। शिक्षकों की नियुक्तियां नहीं होने के कारण स्कूलों में छात्र-शिक्षक अनुपात बहुत बढ़ गया है। दिल्ली के स्कूलों में 100-100 विद्यार्थी मिडिल स्कूलों की कक्षाओं में और 75-75 विद्यार्थी नवीं से बारहवीं कक्षाओं में होना आम बात है। नवीं और दसवीं कक्षाओं में 75-75 विद्यार्थियों के सतत एवं समग्र मूल्यांकन रिपोर्ट कार्ड कभी ईमानदारी से नहीं भरे जा सकते। शिक्षक कहते हैं कि प्रति कक्षा यदि 30-35 विद्यार्थी हों तो शायद यह करना संभव होता। मामला केवल ढेरों कॉलम भरने, प्रतिशत निकालने, ग्रेड तय करने इत्यादि तक सीमित नहीं है। दिक्कतें ग्रेड करने के मुद्दे की प्रकृति से भी संबंधित है। सवाल यह भी है कि दो-दो टर्म में हर विद्यार्थी को 'शिक्षकों', 'अन्य विद्यार्थियों', 'स्कूली कार्यक्रमों', 'माहौल' और 'मूल्यों' के प्रति 'दृष्टिकोण' पर ग्रेड कैसे दिए जा सकते हैं? क्या 'दृष्टिकोण' का मापन एक तटस्थ मसला है? क्या 'दृष्टिकोण' छह महिनों के अन्तराल में बदल जाते हैं? उसी प्रकार क्या 'सोचने के कौशल', 'सामाजिक कौशल' और 'भावनात्मक कौशल' ग्रेडों में मापे जा सकते हैं? शिक्षकों को निर्देश हैं कि जो विद्यार्थी विषयों में यानी 'शैक्षिक क्षेत्रों' में अंक नहीं पाते हैं उन्हें अन्य 'सह-शैक्षिक क्षेत्रों' के ग्रेड के आधार पर पास किया जाए। यानी 10वीं तक कोई परीक्षा ऐसी नहीं होगी जिसमें कोई फेल होगा। किसी ने सोचा है या करके देखा है कि ऐसा एक कार्ड भरना कितना समय और शक्ति खाता है और वास्तव में क्या दिखाता है?

परीक्षा में इस प्रकार का परिवर्तन, सबको पास करना, शिक्षकों की दृष्टि से विवादास्पद है क्योंकि, उनके अनुसार, इसका

सीधा असर विद्यार्थियों की पढ़ने में मेहनत करने की प्रेरणा पर पड़ा है। शिक्षकों का मानना है कि परीक्षा की पद्धति बदलने की जरूरत थी, उसे रटन्त पद्धति से हटाकर तार्किकता का आधार मिलना जरूरी था। शिक्षकों से इतने बड़े परिवर्तन पर कोई व्यापक विचार विमर्श/संवाद नहीं हुआ। उन्हें तो बस ऊपर से आए हर आदेश को लागू करना है।

शिक्षकों का कक्षा/स्कूल में अनुपस्थित रहना शोधकर्ताओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण मसला रहा है परन्तु अनुपस्थिति कितनी 'ड्यूटी लीव' के कारण है और कितनी व्यक्तिगत/गायब रहने के कारण, इस पर आंकड़े हैं नहीं और हैं तो स्पष्ट नहीं हैं। आमतौर पर शिक्षक पढ़ाने के अलावा 20-25 तरह के अन्य स्कूली और गैर-स्कूली काम करते हैं जिनमें जनगणना, चुनाव, छात्रवृत्तियां, किताबें, चप्पलें, साइकिलें, यूनीफार्म, स्टेशनरी इत्यादि का वितरण; नामांकन अभियान, बीपीएल सर्वेक्षण, डाइस (DISE) के लिए तरह-तरह के आंकड़े इकट्ठे करना और भेजना, प्रशिक्षण, इत्यादि काम शामिल हैं। छात्रवृत्तियां सीधे बैंक में जाएं, इसलिए बहुत बार बैंकों के फार्म भी शिक्षक भरते हैं जैसे दिल्ली में लाडली योजना के फार्म। इस तरह के काम कितना समय खाते हैं, इसकी व्यवस्थित गणना नहीं के बराबर है। छात्रवृत्तियां और अन्य योजनाओं में राज्य स्तरीय विविधता और विभिन्नता होने के बावजूद सभी शिक्षक यही कहते मिले हैं कि वे अपना अधिकतर समय अब तरह-तरह के फार्म भरने में खपाते हैं। कस्बा और गांव के स्तर के शिक्षकों का बहुत-सा समय किताबें, यूनीफार्म, स्टेशनरी, साईकिलों इत्यादि, की खरीद फरोख्त की कार्यवाही में बीत जाता है और वे स्कूल में अनुपस्थित रहते हैं।

स्कूलों के स्तर पर शिक्षकों की स्वायतत्ता कभी रही नहीं, परन्तु अब बेहतर परिणाम लाने का दबाव दोनों सरकारी और निजी स्कूलों पर इतना है कि इसके लिए शासन और निजी स्कूलों के प्रशासक शिक्षकों पर तानाशाही की किसी भी हद तक जा सकते हैं। इस संदर्भ में दिल्ली के केन्द्रीय विद्यालय में ग्याहरवीं और बाहरवीं में गणित पढ़ाने वाली एक शिक्षिका का अनुभव स्कूली प्रशासन की तानाशाही की एक बानगी देता है। उन्होंने कहा किः

> चोर को पकड़ने के लिए आजकल दुकानों और ढेरों अन्य सरकारी और गैर-सरकारी जगहों पर क्लोज सर्किट कैमरे लगाने का चलन बढ़ा है। अब ऐसे कैमरे का उपयोग शिक्षकों पर निगरानी रखने और उन्हें पकड़ने के लिए भी किया जाने लगा है। वे पूछने लगीं कि ऐसे कैमरे बनाने वाली कम्पनियों को हर स्कूल के हर कमरे में कैमरे लगाने के ठेके मिलने से बड़ा बाजार कहां मिलेगा? दिल्ली के कई बड़े निजी स्कूलों की कक्षाओं में शिक्षक के बैठने के लिए कुर्सी नहीं होती और कैमरों की मदद से उन पर निगरानी की जाती है। अब केन्द्रीय विद्यालयों में भी कैमरे लग गए हैं। गनीमत है कि इनमें शिक्षक के लिए कक्षा में कुर्सियां उपलब्ध हैं लेकिन वे उन पर बैठ नहीं सकते!
>
> परन्तु यदि शिक्षक पांच मिनट के लिए भी बैठ जाएं तो प्रधानाचार्य विद्यार्थियों के सामने ही उन्हें डपट जाते हैं। दिल्ली कॉरपोरेशन के कुछ स्कूलों में भी कैमरे लगाए गए थे और अब ऐसे स्कूलों की संख्या बढ़ाने की योजना है। इन शिक्षिका ने कहा कि उनकी हैसियत अब 'ज्यूलरी शॉप' के चोर के जैसी हो गई है। उन्होंने कहा कि गणित की शिक्षिका बनने का चुनाव उन्होंने गणित पढ़ाने में अत्यधिक रुचि होने के कारण किया था। वे 30 वर्षों से शौक से पढ़ा भी रही थीं पर इस तरह के कदमों के कारण पढ़ाने में उनकी रुचि खत्म हो गई। उन्होंने कहा, "मैं 57 वर्ष की हूं। पढ़ाते-पढ़ाते 5 मिनट के लिए भी बैठ जांऊ तो कैमरे से प्रधानाचार्य को पता चलता है और वह तुरन्त खड़े होने का आदेश देते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे सरेआम मुझे बेइज्जत किया जा रहा है। मैं यह क्यों झेलूं!" उन्होंने यह भी बताया कि लगातार 6-6 घण्टे खड़े रहने के कारण शिक्षकों के घुटने सूज जाते हैं। परन्तु शिक्षकों पर अविश्वास के इस माहौल में उनके पास अपमान झेलने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

कई शिक्षकों की यह राय है कि इस प्रकार के निर्णयों और बदलती हुई सेवा शर्तों (इसकी विस्तृत चर्चा अगले खण्ड में की जाएगी) से शिक्षकों की न केवल आर्थिक बल्कि सामाजिक हैसियत भी घटी है। इस संबंध में विश्व बैंक के 1993 में प्रकाशित एक दस्तावेज 'विकासशील देशों में शिक्षक : प्रभावशीलता को सुधारना और लागत का प्रबंधन करना'[1] (Teachers in doveloping countries : Improving effectivenss and managing cost) का जिक्र करना जरूरी है

1. वेलमण्ड, माइकल, 2002, ग्लोबलाइजेशन व्यूड फ्रॉम द पेरीफेरी : द डायनेमिक ऑफ टीचर आइडेन्टिटी इन रिपब्लिक ऑफ बेनिन, कम्पेरेटिव एज्युकेशन रिव्यू. 46(1) : 37-65

जो शिक्षकों से संबंधित नीतिगत मुद्दों की गहराई से पड़ताल करता है (वेलमण्ड, 2002)। इसमें शिक्षकों के संदर्भ में दो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं : शिक्षकों को सरकारी सेवा के काडर से अलग करना और उनके पक्के रोजगार की गारंटी को समाप्त करना। लागत घटाने के सुझाए गए अन्य तरीके हैं : दो पारी वाले स्कूल, मल्टी-ग्रेड कक्षाएं (एक ही शिक्षक एक साथ एक से ज्यादा कक्षाएं पढ़ाए), विद्यार्थी-शिक्षक अनुपात बढ़ाना और शिक्षकों के स्थान पर सहायक शिक्षण सामग्री द्वारा शिक्षण। शिक्षकों पर विश्व बैंक की इन नीतियों के गहरे असर का विवरण वेलमण्ड ने रिपब्लिक ऑफ बेनिन में किए अपने अध्ययन के आधार दिया है और वे कहते हैं कि ऐसे नीतिगत परिवर्तनों को शिक्षक की छवि, सामाजिक हैसियत और पढ़ाने के पेशे, खास तौर से पढ़ाने की गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभावों से कोई लेना देना नहीं है। इस अध्ययन के आधार पर वे दिखाते हैं कि इन परिवर्तनों ने न केवल शिक्षा की गुणवत्ता को बदतर किया है बल्कि शिक्षकों की छवि पर नकारात्मक असर डाला है और समाज में उनकी हैसियत घटाई है।

इसलिए यह महज इत्तफाक नहीं है कि मध्य प्रदेश राज्य में पिछले 18 वर्षों से, यानी 1993 से, मात्र संविदा शिक्षकों की नियुक्तियां हुई हैं। संविदा शिक्षकों के निरंतर चले संघर्षों के फलस्वरूप पिछले कुछ वर्षों से कुछ संविदा शिक्षकों की नौकरियों को नए और बदतर सेवा शर्तों के तहत समायोजित किया गया है। 1993 तक सेवा शर्तों के तहत दी जाने वाली नियमित पक्की नौकरियां खत्म कर दी गईं हैं। इस तरह आज मध्य प्रदेश में शिक्षकों की नौ श्रेणियों मौजूद हैं जिनमें समान पद और कार्य की जिम्मेदारी के बावजूद वेतन/मानदेय की दर 2,500 रुपये से 17-18,000 रुपये मासिक तक है तथा अन्य सेवा शर्तों में भी जमीन आसमान का अन्तर है। एक और बुनियादी अन्तर यह है कि संविदा (ठेके पर) शिक्षक राज्य सरकार की बजाय विकेन्द्रित राजनैतिक संस्थानों यानी पंचायत या जनपद के प्रति जवाबदेह हैं। सरपंच या जनपद अध्यक्ष के हस्ताक्षर के बिना न तो उन्हें छुट्टी मिलती है और न ही मानदेय। इस संदर्भ में मध्य प्रदेश के गांव के एक शिक्षक की आप बीति नीतियों के प्रभावों पर और शिक्षक की हैसियत पर प्रकाश डालती है।

घटना सन् 2000 के आस-पास की है। उस समय के एक जिला शिक्षा अधिकारी ने बताया कि अचानक एक दिन एक गांव के सरपंच, जो ग्राम शिक्षा समिति के अध्यक्ष थे, ने सूचित किया कि उन्होंने स्कूल के एक शिक्षक को कमरे में बन्द कर दिया है क्योंकि वह स्कूल देर से आता है। सरपंच ने कमरे के दरवाजे पर ताला ठोक दिया और स्वयं बाहर बन्दूक लेकर पहरा देने लगा। उसने कहा कि शिक्षक को तब तक नहीं छोड़ा जाएगा जब तक जिला शिक्षा अधिकारी गांव आकर शिक्षक का स्थानान्तरण नहीं करेंगी। जिला शिक्षा अधिकारी 7-8 घण्टों के बाद ही गांव पहुंची और तब उस सरपंच यानी शिक्षा समिति के अध्यक्ष की कैद से शिक्षक को छुड़वाया गया। सरपंच के दबदबे और आतंक के कारण इस घटना की पुलिस में रिपोर्ट नहीं लिखवाई गई। सामन्ती इलाकों में शिक्षक तभी ताकतवर होते हैं जब वे स्वयं जमीन जायदाद के मालिक हों और ऊंची जाति के हों। ऐसे शिक्षक या तो निडर होकर पढ़ाते हैं या मुफ्त का खाते हैं। यदि शिक्षक निम्न वर्ग, जाति या आदिवासी समाज के हों तो वे लगातार दहशत और तनाव में जीते हैं और संविदा शिक्षक होने के कारण कानूनी कार्यवाही करने से घबराते हैं। नियमित शिक्षकों का तो स्थानान्तरण हो सकता था परन्तु संविदा शिक्षकों को नौकरी से निकालने की ही संभावना बनती है। ऐसी परिस्थितियों में गांवों में नियुक्त महिला शिक्षिकाएं क्या करती हैं, कैसे जूझती हैं; यह अलग ही मसला है। जाहिर है कि ये मुद्दे शोध का विषय नहीं बनते।

शिक्षक की बदलती हैसियत और अन्तर्राष्ट्रीय विमर्श

शिक्षा के बजट के संदर्भ में सबसे ज्यादा आलोचना का विषय रहा है। शिक्षकों का वेतन जो बजट का 80-90 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा होता है। इसलिए आर्थिक उदारीकरण के दौर में जब सामाजिक क्षेत्र के बजट को घटाने का लगातार दबाव बढ़ा तब शिक्षकों के वेतन में कटौती और सेवा शर्तों में आमूल परिवर्तन महत्त्वपूर्ण विषय बने। शिक्षकों के वेतन और सेवा शर्तों में परिवर्तन के लिए माहौल बनना एक राष्ट्रीय घटना मात्र नहीं है। इसे मात्र राष्ट्रीय बजट में कटौती के संदर्भ में समझना भी नादानी है जैसा कि उपरोक्त विश्व बैंक के दस्तावेज से स्पष्ट है। नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों के तहत शिक्षा को बाजार के हवाले करने का दबाव लगातार रहा है और शिक्षकों के खिलाफ माहौल बनाना इन परिवर्तनों की आम स्वीकृति के लिए जरूरी रहा है।

शिक्षक राजनीति में लिप्त हैं, पढ़ाते नहीं हैं, अनुपस्थित रहते हैं, अत्यधिक वेतन पाते हैं, इत्यादि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शोधों के आधार पर गढ़ी गई शिक्षक की छवि के चौखटे के बाहर देखें तो बहुत से ऐसे मुद्दे सामने आते हैं जिन पर शोध नहीं होता। ऐसे मुद्दों पर शोध के लिए आसानी से धनराशि भी उपलब्ध नहीं होती। ये मुद्दे शिक्षा में नव-उदारवादी एजेण्डे को लागू करने में बाधक हो सकते हैं।

शिक्षक के पेशे से संबंधित यह एजेण्डा क्या है और इसके पीछे किस तरह के सैद्धान्तिक तर्क हैं इनकी एक झलक हेल्सी और अन्य (1997) की पुस्तक[2] में मिलती है। वे शिक्षकों पर लिखे शोध पर्चे में नव-उदारवादियों द्वारा पश्चिम के पूंजीवाद के संकट और इसके कल्याणकारी राज्य के विस्तार के संबंध पर चर्चा करते हैं। लेखकों का कहना है कि शिक्षा में ढांचागत परिवर्तनों को लाने में पब्लिक चॉईस थ्यरी (सिद्धांत) के पैरोकारों की अहम् भूमिका रही है। यह सिद्धांत पश्चिम में पूंजीवाद के संकट का श्रेय राज्य की बढ़ती गतिविधि यानी प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं और इससे विभिन्न समूहों के दबाव के परिणामस्वरूप कल्याणकारी राज्य के विस्तार को देता है। यह सिद्धांत दावा करता है कि शिक्षा पर खर्चा बढ़ा है, परन्तु उसका स्तर नहीं। इस सिद्धांत के मानने वालों के अनुसार शिक्षा का खर्च बढ़ा है, शिक्षकों की बढ़ती आय/वेतन के कारण। ये कहते हैं कि शिक्षकों को जटिल नियमों और ताकतवर यूनियनों का संरक्षण प्राप्त है जो शिक्षकों की कीमतों को बढ़वाती हैं। यानी इस सिद्धांत के अनुसार शिक्षक मध्यम वर्गीय पेशेवर हैं और इन्हें अन्यायोचित फायदे मिले हैं क्योंकि उन्हें बाजार का अनुशासन और उतार-चढ़ाव नहीं झेलने पड़ते। इसी कारण सफल होने पर ये पुरस्कृत नहीं किए जाते पर असफलता पर इन्हें बेरोजगारी भी नहीं झेलनी पड़ती। इसलिए, इस सिद्धांत के पैरोकार यह मानते हैं कि शिक्षा को कल्याणकारी क्षेत्र के दायरे से निकालकर और उस पर बाजार का अनुशासन लागू करके ही उसके खर्चे कम और नियंत्रित किए जा सकते हैं। इस विचार का अर्थ यह भी है कि समुदाय और व्यक्तिगत चुनाव के नाम पर स्कूल स्वयं संचालित हों। यदि स्कूलों को वेतन निर्धारित करने, शिक्षकों को नौकरी देने और निकालने की क्षमता होगी तो ट्रेड यूनियनों की ताकत टूटेगी और इससे संगठित होकर ज्यादा वेतन और अन्य शैक्षिक स्रोतों की मांग का दबाव बनाने की एकता भी टूटेगी। इस सिद्धांत के प्रणेताओं के लिए शिक्षा को बाजार के हवाले करने की अनुशंसा एक ताकतवर औजार रहा है। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में शिक्षकों का वेतन एक महत्त्वपूर्ण खर्चा माना गया जिसे शिक्षा के बजट को कम करने के लिए घटाना जरूरी माना गया। हालांकि इस सिद्धांत के आलोचकों ने स्पष्टतः यह कहा है कि आवृत्ति संकट पूंजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित है और इन्होंने कल्याणकारी राज्य के उदय से इसके संबंध को जोड़े जाने को चुनौती दी है। इन्होंने इस बात को भी चुनौती दी कि शिक्षक मात्र धन के लालच में नौकरियां चाहते हैं और उनकी शिक्षक के पेशे को लेकर कोई प्रेरणा नहीं है। परन्तु न केवल पूंजीवादी देशों में बल्कि नव-उदारवादी सुधारों को लागू करने वाले देशों जैसे, भारत में, स्पष्टतः इस सिद्धांत के आलोचकों की नहीं चली।

भारत में कक्षा आठवीं तक की शिक्षा सर्व शिक्षा अभियान के तहत है। शिक्षा के अधिकार कानून के लागू होने के बाद यह तथ्य सामने आए हैं कि मध्य प्रदेश, बिहार और शायद उत्तर के एक-दो अन्य राज्यों को छोड़कर 'पैरा-टीचर' जैसी संविदा नियुक्तियां बहुत सीमित हो गई हैं। माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए अभी भी निजीकरण के कई मॉडल लागू किए जा रहे हैं और चर्चा में हैं। पिछले वर्ष प्रधानमंत्री की घोषणा के बाद हर ब्लॉक में केन्द्रीय विद्यालयों की तर्ज पर 6,000 मॉडल स्कूल खोलने की घोषणा हुई थी। तुरन्त ही उनमें से 2,500 मॉडल स्कूलों की जिम्मेदारी निजी क्षेत्र को दे दी गई। इनकी जिम्मेदारी मात्र 50 प्रतिशत विद्यार्थी सरकारी शर्तों पर लेने की होगी। बाकी 50 प्रतिशत विद्यार्थियों से क्या फीस और अनुदान लिया जाएगा इस पर सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा और न ही शिक्षकों की सेवा शर्तों पर। निजी क्षेत्र का ही दूसरा मॉडल 'सार्वजनिक-निजी भागीदारी' भी जगह-जगह लागू किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि इन विभिन्न मॉडलों में शिक्षकों सेवा शर्तों की आलोचना और जिम्मेदारी से भी सरकार मुक्त हो जाती है। मामला निजी क्षेत्र और शिक्षकों के बीच हो जाता है।

पिछले दो दशकों में शिक्षा में लाए गए ढांचागत परिवर्तनों ने शिक्षकों को कमजोर बनाया है। नई सेवा शर्तों, वेतनमानों/मानदेयों ने शिक्षकों को बांट दिया है और शिक्षक संगठनों को कमजोर या खत्म किया है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया, इस सबसे ज्यादा गंभीर मसला यह है कि ऐसा माहौल बना है जिससे शिक्षकों की सामाजिक छवि और हैसियत घटी है और शिक्षक संबंधी शैक्षिक मुद्दे शोधों में अदृश्य हुए हैं। ◆

2. हेल्सी, ए.एच., हूज लुडर, फिलिप ब्राउन एवं ऐमी स्टुअर्ट बेल्स (संपादित), (1997), एज्युकेशन कल्चर, इकॉनॉमी एण्ड सोसाइटी, न्यूयॉर्क, ऑक्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।